पाठक और साहित्य

प्रफुल्ल कोलख्यान

वही लड़ेगा अब भाषा का युद्ध
जो सिर्फ अपनी भाषा में बोलेगा
मालिक की भाषा का एक शब्द भी नहीं
चाहे वह शास्त्रार्थ न करे जीतेगा
बल्कि वह शास्त्रार्थ नहीं करेगा।

- रघुवीर सहाय

आज पूरी दुनिया मानवीय संदर्भों के नये युग के सूत्रपात में सक्रिय है। नयी गठन और नये वर्गीकरण से मनुष्यता अपने आंतरिक विभाजन और आत्म-उपनिवेशीकरण के भी गंभीर दौर के सामने है। भारतीय और हिंदी समाज भी इन खतरों से अछूता नहीं है। ऐसे कठिन समय में अपने सामाजिक सरोकार और सामाजिक स्वीकार की दृष्टि से (हिंदी) साहित्य की प्रासंगिकता अपने पाठकीय और सामाजिक पक्ष की सब से गंभीर चुनौती से घिरी है। ऐसे में बार-बार परीक्षणीय है कि साहित्य क्या है? साहित्य का प्रयोजन क्या है? साहित्य किसका होता है? ये कुछ ऐसे सवाल हैं जो अलग-अलग रहकर भी महत्वपूर्ण हैं और एक साथ रहकर भी। इनका जवाब अलग-अलग भी और एक साथ भी तलाशना होगा। फिर, ये सवाल इतने अंतर्संबंधित हैं कि ये किसी एक ही सवाल के भिन्न-भिन्न पहलू ठहरते हैं। इसलिए इनके जबावों को भी अंतर्संबंधित होकर संगत होना होगा। कहा जाता है कि कई बार किसी जरूरी सवाल को नये-नये कोणों से बार-बार उठाना भी महत्त्वपूर्ण काम होता है, भले ही कारगर जवाब तत्काल ही हासिल न किये जा सकें। हमारे समय में संकट इसलिए भी गहरा है कि नकली सवाल खड़ाकर उसके नकली जवाब का घटाटोप इस तरह खड़ा किया जाता है कि उसके कारण असली सवाल सिर

ही नहीं उठा पाता है। संस्कृति के काल प्रवाह का वह अंश बड़ा ही खतरनाक होता है जिस अंश में जायज सवाल नाजायज सवाल के द्वारा विस्थापित कर दिये जाते हैं। युगांत के समय पुराने सवाल नये संदर्भों के साथ उपस्थित होते हैं और नये जवाब की माँग करते हैं। आज हम संक्रमण काल की उस सीमा रेखा पर खड़े हैं जहाँ से होता हुआ युगांत साफ-साफ दिखाई देता है। इसलिए, कुछ बुनियादी सवालों को उठाने का अपना औचित्य है। निवेदन है कि सवालों की परिचिति के कारण जवाब तलाशने की प्रचेष्टाओं को पिष्टपेषण मात्र मान लेना किसी भी प्रकार से बुद्धिमानी नहीं है।

को अंतिम रूप से परिभाषित कर लेने का दावा या प्रयास करना कठिन और अव्यावहारिक ही नहीं धूर्त्ततापूर्ण और कपटपूर्ण भी होता है। तो क्या, साहित्य क्या है जैसे सवाल का कोई उत्तर दिया ही नहीं जा सकता है? दिया जा सकता है। लेकिन इस उत्तर से सिर्फ यह साफ हो सकेगा कि सभ्यता विकास के इस चरण पर हम साहित्य से क्या समझते हैं या यह कि हम साहित्य से क्या अपेक्षा रखते हैं। यानी कहीं-न-कहीं इस उत्तर को किसी-न-किसी मात्रा में आत्मनिष्ठ और कालाधीन मानकर ही संतोष कर लेना होगा। कहना यह है कि ऐसे प्रश्नों का कोई आत्यंतिक या सर्वमान्य उत्तर नहीं होता है, नहीं हो सकता है। समाज की संरचना बहु-स्तरीय और बहु-आधारीय होती है। सामाजिक संरचना की बहु-स्तरीयता और बहु-आधारीयता से सामाजिक प्रवृत्तियों की बहुलता का सूत्रपात होता है। समाज की प्रावृत्तिक बहुलता में पारस्परिक टकाराव होता है, तो सहकार भी होता है। पारिस्थितिक, सामाजिक एवं प्राकृतिक संघर्षों, साथ ही राज्य तथा समाज के विभिन्न निकायों में विभिन्न रूपों की सत्ताओं और सत्वों के बंटवारे में उठनेवाली विविध समस्याओं के संदर्भों से समाज के सदस्यों की विभिन्न भावमुद्राओं में भी पारस्परिक टकाराव और सहकार के छोटे-बड़े बिंदु लगातार बनते-मिटते रहते हैं। इन छोटे-बड़े बिंदुओं के लगातार बनने-मिटने के सांगोपांग निर्वैयिक्तक विश्लेषण की स्वचालित प्रक्रिया से सामाजिक चेतना का मूलाधार बनता रहता है। जीवंत सामाजिक चेतना के भावात्मक और संगत रागात्मक ढाँचों की संवेदना से उत्पन्न बोध का संपीड़न, संप्रसार और संप्रेषण भाषिक आयोजन में प्रकट होता है। इस भाषिक आयोजन को साहित्य कहा जा सकता है। अर्थात, जीवंत सामाजिक चेतना का भाषिक आयोजन साहित्य होता है। स्पष्ट है , साहित्य निरपेक्ष और सरल सत्ता न होकर सापेक्ष और जटिल सत्ता है। इसकी सापेक्षता समाज से और जटिलता जनजीवन से संबद्ध है। इसलिए देखना यह भी होगा कि समाज क्या है और जनजीवन किस दशा में है। तथा इन सब का जनता की चित्तवृत्तियों पर कैसा असर हो रहा है। ऐसे में आचार्य रामचंद्र शुक्ल की हिदायत याद

रखी जानी चाहिए कि जनता की चित्तवृत्तियों में होनेवाले परिवर्तनों का असर साहित्य के रूप और स्वभाव को परिवर्त्तित करना शुरू कर देता है। यहीं से साहित्य के नये युग की शुरूआत होती है। बल्कि, यहीं से नये सामाजिक युग की भी शुरूआत होती है। यहाँ यह बात रेखांकित की जा सकती है कि जनता की चित्तवृत्तियों में परिवर्तन पहले आता है और यह भी कि जनता की चित्तवृत्तियों में आनेवाले परिवर्तन के विभिन्न कारक होते हैं, इन में से एक कारक साहित्य भी हो सकता है, बल्कि होता है। इस अर्थ में साहित्य का महत्त्व दुहरा हो जाता है क्योंकि साहित्य के अध्ययन से जनता की चित्तवृत्ति और उस में हो रहे परिवर्तन और उसके कारक दोनों को एक साथ पकड़ा जा सकता है। भक्तिकाल का भक्ति-साहित्य सबसे अच्छा उदाहरण हो सकता है। भक्तिकाल के साहित्य में जनता की चित्तवृत्तियों में आ रहे परिवर्तन को भी और उस परिवर्तन के अनिवार्य कारक के रूप में एक महत्त्वपूर्ण कारक के उद्भव और विकास को भी एक ही साथ पढ़ लिया जा सकता है। अकारण नहीं है कि आचार्य शुक्ल को भक्तिकालीन साहित्य का भाव-प्रसार अधिक महत्त्वपूर्ण लगता है। रीतिकालीन रीति साहित्य भी जनता के एक छोटे किंतु शक्तियुक्त वर्ग या समूह की चित्तवृत्ति में आ रहे परिवर्तनों को परिलक्षित करता है, क्योंकि यह परिलक्षण साहित्य की बुनियादी शर्त है। ऐसा नहीं कर पाने की स्थिति में उसे साहित्य ही नहीं माना जा सकता है, कम-से-कम आचार्य शुक्ल तो नहीं मानते। लेकिन एक बहुत ही छोटे वर्ग या समूह तक ही सीमित रहने के कारण रीति साहित्य में भाव-प्रसार की वह व्यापकता नहीं मिलती है, जो भक्ति साहित्य में सहज ही मिल जाती है। भक्तिकालीन भक्ति-साहित्य जनता की चित्तवृत्तियों में आ रहे परिवर्तनों के भीतर से उमड़ कर आ रही जनाकांक्षाओं को अधिक सशक्तता और साहित्यिकता के साथ मुखरित करने में आश्चर्यजनक ढंग से सफल होता है। कहा जा सकता है कि हाड़-माँस के राम और कृष्ण कभी हुए कि नहीं, इस प्रश्न पर आधुनिक इतिहास और साहित्य का अपना भिन्न-भिन्न मत अपने-अपने परिसर में भिन्न-भिन्न तर्क के साथ स्वीकार्य हो सकता है। लेकिन साहित्य का यह मत कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि राम और कृष्ण जैसे शील-शक्ति-सौंदर्य संपन्न धीरोदात्त और धीरललित व्यक्तित्वों के होने की माँग उस समय के समाज की एक जेनुइन माँग थी। घटना और आकांक्षा के इस द्वंद्व के भीतर से इतिहास और पुराण के सम्यक द्वंद्व का भी नये सिरे से बौद्धिक उद्घाटन संभव हो सकता है। साहित्य का सबसे बड़ा अहित इस बात से भी हुआ कि साहित्य के एक प्रभावशाली कर्तृ-पक्ष ने जनता की चित्तवृत्ति और व्यक्ति की चित्तवृत्ति में से व्यक्ति की चित्तवृत्ति को चुन लिया। जब कि साहित्य की मूल प्रवृत्ति के अनुसार इसके व्यक्ति भी अंतत: प्रवृत्तियों के व्यक्तिकरण से ही विनिर्मित होते हैं। इतिहास, पुराण और गाथा की अपनी उपादेयता है लेकिन आधुनिक साहित्य से इनका अपना प्रयोजनीय पार्थक्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

आज जब विभिन्न क्षेत्र की सीमाओं को अतिक्रमित कर एक नये प्रकार के असीमांकन से उत्पन्न समस्याओं का घटाटोप चेतना के आकाश को आच्छादित कर रहा है तब इस प्रयोजनीय पार्थक्य को बचाये रखने की सर्वाधिक सांस्कृतिक आवश्यकता को नजरअंदाज करने के अपने खतरे हैं। इन खतरों के प्रति और अधिक सावधान बने रहने की आवश्यकता महसूस की जानी चाहिए। अतिक्रमण की इस नई विश्वजनीन प्रवृत्ति पर ध्यान देने से यह बिना किसी गंभीर आयास के सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि सबसे अधिक सुपरिभाषित और सुरक्षित राजनीतिक सीमांकन का भी किस प्रकार पूरी चतुराई के साथ अतिक्रमण जारी है। जिस संप्रभुता को राज्य के अनिवार्य तत्त्व के रूप में अब तक राजनीति शास्त्र गिनता रहा है, वास्तविक अर्थ में अब उसकी अनिवार्यता बची नहीं है। नये जमाने में संप्रभुता गये जमाने की अवधारणा मात्र रह गई है। जाहिर है संप्रभुता अर्थात निजत्व के कायम रह पाने की नाभिकीयता के विलोपीकरण के इस युग में साहित्य की अपनी विधागत संप्रभुता भी न तो अखंडित रह सकती थी और न रह सकी है। प्रसंगत:, साहित्य की विभिन्न विधाओं में परस्पर अंतर्प्रवेश की प्रवृत्ति को भी अतिक्रमण की इसी प्रक्रिया के एक लक्षण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। अपनी किताब 'क़िस्सा कोताह' के 'गपड़तान' के संदर्भ में राजेश जोशी कहते हैं, 'एक अजीब-सी लत हम सब में याने हर पाठक में चली आती है कि किसी भी चीज़ को पढ़ने से पहले वह जान लेना चाहता है कि वह जिस किताब को पढ़ रहा है, वह क्या है। याने पहले उसकी विधा तय होना चाहिए। अरे भाई विधा तय हो जाने से क्या हो जाएगा। अब कौन-सी विधा साबुत बची है।' इस बचाव में एक पीड़ा है। यह पाठकों का ही नहीं मनुष्य का मौलिक स्वभाव है कि वह किसी भी प्रक्रिया में शामिल होने के पहले जान लेना चाहता है, ज्ञान के स्तर पर न भी तो अनुमान के स्तर पर ही सही, कि जिस प्रक्रिया में वह शामिल होने जा रहा है वह दरअस्ल है क्या। मनुष्य के इस मौलिक स्वभाव से कटकर किताब को पढ़ने की इस अजीब-सी लेखकीय जिद के निहितार्थ को पाठक के ही नजरिये से समझना होगा। कुछ-एक सफल प्रयोगों के परिणाम रचनाकार की दृष्टि से सुखद भले रहे हों लेकिन पाठकीय दृष्टिकोण से देखें तो इस विलोपीकरण की प्रक्रिया से संघर्ष करने के बजाए इस प्रक्रिया की शक्ति के सामने समर्पित होते चले जाने के कारण भी साहित्य अपने आधार से कटकर अधर में लटक गया है। साहित्य आज भी अपने वास्तविक संघर्ष की यह मनोभूमि हासिल कर सकता है क्योंकि साहित्य को एक में समग्र और समग्र में एक को उपलब्ध करने-करवाने का संवेदी-बौद्धिक एकाधिकार आज भी हासिल है। संप्रभुता अर्थात निजत्व के कायम रह पाने की नाभिकीयता का गहन संबंध आत्मनिष्ठता से होता है। वस्तुनिष्ठता बहुत अच्छी और जरूरी प्रसंग है लेकिन मनुष्य इसलिए भी मनुष्य है कि वह आत्मनिष्ठता के अतिविस्तृत भावाकाश में मुक्त विचरण की संभावनाओं से संपन्न है। जीवन में कल्पनाशीलता का महत्त्व बना हुआ है। साहित्य के संदर्भ में यह

कल्पनाशीलता है क्या? वस्तुनिष्ठता पर आत्मनिष्ठता का अध्यारोपण और जो है उससे बेहतर की आकांक्षा का मानसिक पुरान्वेषण ही तो! कह सकते हैं, कल्पनाशीलता उपलब्ध के विस्तार और निस्तार के साथ आकांक्षित अनुपलब्ध को अर्जित करने की विभिन्न प्रक्रियाओं में अंतर्निहित विभिन्न विकल्पों की मानसिक तलाश की मुख्य कारिका वृत्ति है। मनुष्य वस्तुनिष्ठता की वेदी पर आत्मनिष्ठता की बलि चढ़ाकर बहुत दूर और दिन तक अपनी मनुष्यता को बचाये या बनाये नहीं रख सकता है। वस्तुनिष्ठता के आग्रह और वैज्ञानिकता की 'बाइनेरी प्रविधि' के सम्मोहन से उत्पन्न मानसिक दबाव के कारण साहित्य अपनी इस सहज मानवीय मानसिक शक्ति के सार्थक इस्तेमाल के प्रति भी संकोची होता चला गया। बहरहाल, जनता की चित्तवृत्ति में होनेवाले परिवर्तन की जड़ जनता को उपलब्ध समाज की धारिका व्यवस्था में होती है।

मनुष्य की सामाजिकता का आधार श्रम-विभाजन और श्रम-फल के भी समुचित विभाजन/ वितरण की आकांक्षा से उद्भूत होता है। यहीं पर हम पाते हैं कि श्रम-विभाजन और श्रमफल-वितरण में औचित्य के लिए विवेक नि:सृत जिन तार्किकताओं की जरूरत होती है उसे ही शृँखलित करनेवाली मानसिक शक्ति को न्याय-बुद्धि कहते हैं। जब हम न्याय-प्रक्रिया को बिल्कुल तकनीकी अर्थ में देखते हैं तब आशय कानूनी दृष्टि से स्थापित मान्यताओं के संदर्भ में अपराध निर्धारण, अपराधी की पहचान और दंड निर्धारण तक सीमित होता है लेकिन व्यापक अर्थ में न्याय प्रक्रिया में उन जीवन-स्थितियों की भी पहचान का आशय समाहित होता है जिन जीवन-स्थितियों में अपराध की प्रवृत्ति जन्म लेती है। व्यापक न्याय प्रक्रिया में अपराध की प्रवृत्ति के निवारण के लिए आवश्यक सामाजिक आकांक्षाओं और प्रयासों का भी यथा-संभव समावेश होता है। इस व्यापक अर्थ के न्याय का विन्यास पूरे समाज की अंतर्चेतना में परिव्याप्त रहता है। यहीं पर राज्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका का सवाल उठता है। समाज और सामाजिक शक्तियों का विकास ऐतिहासिक प्रक्रिया में संस्कार के धरातल पर अनौपचारिक ढंग से होता है जब कि राज्य का विकास ऐतिहासिक प्रक्रिया में वैचारिक धरातल पर बिल्कुल औपचारिक ढंग से होता है। समाज की नीतियों में परिवर्तन विलंब से होता है क्योंकि संस्कार विलंब से परिवर्तित होते हैं। राज्य की नीतियों में परिवर्तन अपेक्षाकृत अधिक तेजी से होता है क्योंकि विचार तेजी से बदलते हैं। समाज के साथ व्यक्ति का संबंध भावना और नैतिकता के आधार पर अधिक होता है। राज्य के साथ संबंध विचार और वैधानिकता के आधार पर अधिक होता है। राज्य और समाज एक दूसरे के साथ ताल-मेल बना कर चलने की कोशिश करते हैं। कई बार यह ताल-मेल उतना प्रभावी या कारगर नहीं भी बना रह पाता है और एक भिन्न प्रकार का तनाव पैदा होता है। कई सामाजिक विडंबनाओं की जड़ में यह तनाव सक्रिय पाया जाता है। राज्य समाज की अंतर्निहित शक्ति को हड़पना

चाहता है, बल्कि पहला मौका मिलते ही हड़प भी लेता है। गाँव और शहर में एक महत्त्वपूर्ण अंतर यह भी होता है कि गाँव में समाज अधिक सक्रिय होता है जबकि शहर में राज्य अधिक सक्रिय होता है। गाँव के साथ उसके वाशिंदों का संबंध अधिक स्थाई और अधिक भावनात्मक होता है जबकि शहर के साथ उसके वाशिंदों का संबंध अधिक चंचल और वैधानिक होता है। कोलकाता किस का शहर है और किस का गाँव है, यह कोलकाता के साथ उसके लगाव से ही तय हो सकता है। यह नहीं भूलना चाहिए कि कोई भी शहर कुछ लोगों के लिए अपने खास अर्थ में उनका गाँव भी होता है। ग्राम-वासी और शहर-निवासी के द्वंद्व को मुंबई जैसे महानगर के वाशिंदों के बीच सक्रिय तना-तनी में अधिक स्पष्टता से पढ़ा जा सकता है। कुल मिला कर यह कि कोई स्थिति ऐसी नहीं होती है कि जहाँ राज्य या समाज पूर्ण रूप से उपस्थित या अनुपस्थित होता हो। दोनों का अपना चरित्र होता है बावजूद इसके दोनो में कहियत भिन्न, न-भिन्न की स्थिति होती है। इस प्रकार राज्य और समाज दोनों के साथ के व्यक्ति के संबंध की ही सापेक्षता में साहित्य को समझा जा सकता है।

लोग दिन-ब-दिन साहित्य से कटते गये हैं या इसे कुछ लोग इस तरह कहना भी पसंद करेंगे कि साहित्य दिन-ब-दिन लोगों से कटता गया है। जो भी हो, साहित्य से आम आदमी--- अर्थात ऐसा आदमी जिसका साहित्य से आम पठकीय संबंध ही हो, विशेष नहीं--- का लगाव कम होता गया है। इस सचाई के पीछे सक्रिय कारकों की तलाश की ही जानी चाहिए। इस तलाश के क्रम में तुरंत समझ में यह बात आती है कि साहित्य के विकास से संबंधित कारक और सामाजिक विकास के कारक दोनों को अलग-अलग और फिर दोनों के मिले-जुले प्रभावों का भी पहचान की जानी चाहिए। साहित्य के कारकों पर ध्यान देने से यह सहज ही झलक जाता है कि आधुनिक भावबोध ने मनुष्य की संपूर्ण बोधवृत्ति को ही बदल दिया है। नाना कारणों से साहित्य में व्यक्ति-मन, व्यक्ति-अनुभूति, व्यक्ति-सत्य, व्यक्ति-अभिव्यक्ति, व्यक्ति-उत्पादन, व्यक्ति-बोध, व्यक्ति-प्रतीति, व्यक्ति-पीड़ा आदि व्यक्ति केंद्रिकता के बढ़ते हुए आग्रह के कारण अंततः व्यक्तिवाद को ही अधिक महत्त्व मिलता गया। अपनी आग और अपने पानी से किसी का जीवन नहीं निभता है, राजा हो या रंक! सामाजिकता परस्पर-निर्भरता से ही संरक्षित हेती है। यह परस्पर-निर्भरता जितनी अमूर्त होती है सामाजिकता भी उसी आनुपात में अमूर्त होती जाती है। विज्ञान के विकास से मनुष्य और उसकी जीवन-चर्या के समुज्ज्वल होने की संभावना में अद्‌भुत और अकल्पनीय वृद्धि हुई, यह सत्य है। लेकिन इस सत्य के कारण उसकी परस्पर-निर्भरता कम नहीं हुई बल्कि बढ़ी और जटिल हुई है, यह अलग बात है कि परस्पर-निर्भरता की दृश्यता कम होती गई है। इसके साथ ही यह परस्पर-निर्भरता जबर्दस्त अमूर्तन का भी शिकार हुई है। इस अमूर्त्तन के कारण, श्रम का स्वाभाविक आनंद, संतोष

और गरिमा का भाव श्रम से विच्छिन्न हुआ है। इस विच्छिन्नता से श्रम की महिमा को होनेवाली क्षति की भरपाई सिर्फ पारिश्रमिक से संभव नहीं है। साहित्य का एक प्रमुख कार्य अपने बूते ही अमूर्तन की इस स्थिति को तोड़ना भी है और ऐसे साहित्य का प्रतिशोधक होना भी है जो ऐसे अमूर्तन को तोड़ने के बदले उसको जाने या अनजाने संपुष्ट करते हैं। ऐसी अमूर्त्त सामाजिकता के प्रभाव एवं पर-भाव में व्यक्तिवादी आग्रह का दबाव सामाजिकता पर बढ़ता जाता है। व्यक्तिवाद के इस प्रबल आग्रह ने सब से अधिक क्षतिग्रस्त व्यक्तित्ववाद का किया। घनघोर व्यक्तिवादी सचेष्टता के इस समय में व्यक्तित्व-संपन्नता देखने को बहुत कम ही मिलती है। जो हो, व्यक्तिवाद के इस प्रबल आग्रह के समय में व्यक्तित्व-संपन्नता के घनघोर अभाव की इस विडंबना को समझे बिना काम चलनेवाला नहीं है। इस विडंबना को समझने के लिए व्यक्ति और साहित्य की सामाजिक सापेक्षता के विचार अर्थात सामाजिक सामूहिकता के सिद्धांत (Theory Of Social Collectivity) को निश्चय ही खोजना, समझना और आधार बनाना होगा। जो हो, व्यक्तिवाद के प्रबल आग्रह के कारण व्यक्तित्ववाद की जो क्षति हुई सो हुई; जाने-अनजाने व्यक्ति और समाज में परस्पर विरोधिता का भाव भी विकसित हुआ। ऐसा साहित्य समाज सापेक्ष न हो कर व्यक्ति सापेक्ष बनता गया। जो मूल्य निर्मित एवं विकसित हुए वे सामाजिक न हो कर व्यक्तिवाद-पोषक और व्यक्तिवाद-तोषक ही हुए। ऐसे आधुनिक (हिंदी) साहित्य से अधिक-से-अधिक यह सध सकता है कि वह अपने रचनेवाले के मन का कुछ पता हमें बता दे। लेकिन ऐसा साहित्य पाठक के मन का बहुत अधिक स्पर्श नहीं कर पाता है। ऐसे साहित्य में रचियता के बाहर के लोगों के लिए काम की बहुत चीज नहीं हुआ करती है। ऐसे साहित्य के प्रति पाठक की रूचि कम होती जाती है। जिस व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के अधीन रचनाकार पाठ में खुद को अभिव्यक्त करने में अधिक दिलचस्पी रखता है उसी व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के अधीन पाठक पाठ में खुद के अभिव्यक्त होने को ढूढ़ता है। रचनाकार और पाठक का मिलन पाठ की सामाजिक मनोभूमि पर ही संभव हो सकती है। पाठ की सामाजिक मनोभूमि के खो जाने या संकुचित हो जाने पर रचियता पाठक के अभाव का रोना रोता है और पाठक साहित्य के उपयोगी पाठ के अभाव का रोना रोता है। विभिन्न पेशा, अनुभव, अतीत, आघात, सत्कार-दुत्कार आदि से गुजरते हुए बनी मनोरचना वाले पाठक समूहों के लिए समकालीन साहित्य में अपने मन की गुत्थियों को खोलने या अपने विशिष्ट अनुभवों के निर्विशिष्ट एवं निर्वैयिक्तक स्तर पर घटित होने को उसकी पूरी जटिलता के साथ हासिल करने का कोई कारगर अवसर बहुत कम ही बनता है। बिल्कुल स्थूल उदाहरण के लिए प्रेमचंद की कहानी ठाकुर का कुँआ या बड़े घर की बेटी को लिया जा सकता है। इन दोनो ही कहानियों में जिस प्रकार के समाज और परिवार का संदर्भ एवं परिप्रेक्ष्य आया है वह संदर्भ और परिप्रेक्ष्य जिस पाठक के जीवन का हिस्सा नहीं है वह इतर और बेहतर कारणों से इन कहानियों का पाठक भले हो जाये लेकिन ये कहानियाँ उसके निजीपने के

साथ न तो संवाद स्थापित कर सकती है और नहीं उसके मनोजगत की किसी आंतरिक सक्रियता का संवेदनात्मक अंशीदार ही हो सकती है। इन इतर और बेहतर कारणों के निष्प्रभ होते ही ऐसा पाठक न तो इन कहानियों का पाठक और न इन कहानियों की संवेदना का ग्राहक ही रह पाता है। महत्त्वपूर्ण साहित्यकार अपने पाठ के अंदर अपने संभावित पाठक के परिप्रेक्ष्य और संदर्भ के गठन की कला जानता है। सरोकार के एक सिरे पर पाठक और दूसरे सिरे पर रचना के होने से ही साहित्य की संवेदना सक्रिय हो पाती है, सृजन का संवेदना-चक्र पूरा हो पाता है।

यहीं सवाल उठ सकता है कि जिस साहित्य को पाठकों का 'अपनत्व' प्राप्त है वह साहित्य क्या पाठकों के निजीपने से अनिवार्यत: जुड़ी हुई ही होती है? हाँ जुड़ी हुई नहीं भी हो सकती है, लेकिन ऐसा साहित्य जुड़े होने या जुड़ने के लक्ष्य को ध्यान में रखकर नहीं बल्कि पाठक की किन्हीं और माँगों को ध्यान में रखकर और उन्हीं माँगों को संतुष्ट करने के लिए तैयार किया जाता है। और पाठक अपनी उन माँगों को वहाँ संतुष्ट होता हुआ पाता है। सिर्फ पढ़े जाने पर ध्यान न दिया जाये। सिर्फ 'जाने' पर जोर दे कर सुविधाजनक निष्कर्ष न निकाला जाये, क्लब जाने और काम पर जाने के अंतर को ध्यान में जरूर रखा जाये। पाठक सामान्यत: गंभीर रचना के करीब विशिष्ट मन:स्थिति में अपने मन का पता पाने, अपना मन खोलने के लिए आता है, रचनाकार के मन का पता लगाने के लिए नहीं। जैसे कोई किसी कन्या से प्यार करता है तो अपनी किसी निजी प्रेरणा के आधार पर न कि कन्या के परिवार या पिता की जरूरत के आधार पर। ऊपर से यश:कांक्षी चतुर-सुजान रचियता के द्वारा किये गये रचना-छद्म से स्थिति और अबांछित हो जाती है। इस स्थिति में तो रचना के माध्यम से रचनाकार के मन का भी ठीक-ठीक पता पाठकों को नहीं लग पाता है। पाठक इस स्थिति में करे तो करे क्या? वैसे भी पाठक को दूसरी ओर खींचकर ले जानेवाली शक्तियों की आज क्या कमी है! हिंदी में, पाठक की जरूरतों को विभिन्न दृष्टियों और उद्देश्यों की सापेक्षता में विभिन्न प्रकार से क्रमबद्ध करने, अपने अध्ययन का विषय बनाने में जितना प्रयास किया जाना अनिवार्य था उसकी तुलना में अलोचना और रचना के द्वारा किये गये संयुक्त प्रयासों को नगण्य ही माना जायेगा। बल्कि यहाँ प्रसंगतः यह उल्लेख करना जरूरी है कि रचना और आलोचना का संबंध अभिमुखी से अधिक प्रतिमुखी भाव-मुद्रा में ही विकसित हुआ है। हिंदी साहित्य का विमर्श भी रचना के उद्देश्यों को ले कर अ-व्याप्ति या अति-व्याप्ति के वाग्जाल में ही उलझा रहा है। उसके पास या तो कला, कला के लिए का सिद्धांत था या फिर कला, जीवन के लिए का सिद्धांत। कला, कला के लिए के सिद्धांत में अ-व्याप्ति का दोष है क्योंकि मनुष्य का कोई प्रयास अपना उद्देश्य आप ही नहीं हो सकता है। ऐसा कहने से साहित्य की अपनी विशिष्टिता किसी भी रूप में अभिलक्षित नहीं हो पाती है। कला, जीवन के लिए के सिद्धांत में अति-व्याप्ति का दोष इसलिए है कि

चाहे जीवन का जैसा और जितना विस्तृत अर्थ लिया जाये, मनुष्य के सारे प्रयासों का अंतिम लक्ष्य जीवन ही तो होता है। कला और साहित्य के ग्राहक (समाजिक के अर्थ में) और पाठक के लिए होने की चुनौती को स्वीकारनी चाहिए थी। इस चुनौती और दायित्व को ठीक से समझा भी नहीं जा सका। अब जो स्थिति उत्पन्न हुई है उसमें ग्राहक या पाठक की नहीं उपभोक्ता की उपस्थिति साफ-साफ पढ़ी जानी चाहिए। कस्टमर अब कन्ज्युमर के द्वारा विस्थापित हो चुका है। उपभोक्ता शब्द के अर्थ में एक अंतर आया है। नाट्यशास्त्र में वर्णित भोक्ता या उपभोक्ता के अर्थ-प्रसंग को ध्यान में रखा जाये तो यह अर्थांतर और अधिक स्पष्टता से दीख जायेगा। वैसे भी भोक्ता हुए बिना कोई भक्त ही कैसे हो सकता है। साहित्य के पाठक या (उप)भोक्ता को साहित्य में अपनी इच्छानुसार घूमने-फिरने, भटकने, चुनने और उलटने-पुलटने और कई बार सिर्फ समय बिताने की छूट और जगह न हो तो वह उसे बहुत आकृष्ट नहीं कर पाता है। ऐसे पाठकों की नजर में साहित्य को उस बड़े दुकान की तरह ही होना चाहिए जहाँ संभावित ग्राहक या (उप)भोक्ता जा कर उसके अंदर भ्रमण करता है। घूम-फिर कर देखता है, बिना किसी तात्कालिक और प्रत्यक्ष दबाव के निर्णय लेता है, टिप्पणी करता है, मन बने तो हस्तगत और मनोगत भी करता है। वहाँ वह विज्ञापन के भार से मुक्त होकर निर्णय करने के अपने अधिकार के इस्तेमाल का सुख हासिल करना चाहता है, बिना किसी दर-मौलाई या बारगेनिंग के। अर्थात साहित्य को पाठक की भौतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक जरूरतों को दृष्टि में रखते हुए उसका वास्तविक हित-साधक बनने के लिए कठिन, दुरूह और ऊबाऊ रचनापूर्व अभ्यास (होम वर्क) करना ही होगा बिना इसके पाठक और उसके विश्वास, अपनत्व एवं दुलार को हासिल कर पाना गंभीर साहित्य के लिए आज असंभवप्राय ही प्रतीत होता है।

सामाजिक

विकास पर ध्यान देने से बिल्कुल साफ हो जाता है कि पिछले पचास-साठ वर्षों में सामाजिक समीकरणों एवं विषमीकरणों की प्रक्रिया में काफी बदलाव और वेग आया है। यहीं हम अपनी नजर में यह भी रख सकते हैं कि साहित्य का माध्यम भाषा है। भाषा एक भूगोल से बँधी होती है। लेकिन कई बार भाषा अपने मूल क्षेत्र का अतिक्रमण भी करती है। यह अतिक्रमण भाषा के बोलनेवालों की सामाजिक उत्कृष्टता, राजनीतिक प्रभुता, व्यापारिक प्रसारण एवं साहित्यिक सांस्कृतिक उच्चता आदि के कारणों के मिलेजुले प्रभाव से संभव हो पाता है। अंग्रेजी का क्षेत्र विस्तार हमारे लिए सब से अच्छा उदाहरण है। अंग्रेजी में लिखा गया सभी साहित्य अंग्रेज जाति और हितों के संपोषण का भी साहित्य हो ही यह अनिवार्य नहीं है। अंग्रेजी साहित्य और अंग्रेज जाति के साहित्य के अंतर को इतनी आसानी से अलग करके इसलिए भी समझ पाना संभव है कि अंग्रेजी भाषा ने अपने भाषिक क्षेत्र की सीमा का बहुत बड़े

पैमाने पर अतिक्रमण किया है और विभिन्न हित-समूहों के सदस्य इसका साधिकार प्रयोग करते हैं। हिंदी ने भी अपनी भाषिक सीमा का विस्तार किया है। लेकिन हिंदी के क्षेत्र विस्तार का स्वरूप और उसकी प्रकृति अंग्रेजी भाषा के क्षेत्र विस्तार के स्वरूप और उसकी प्रकृति से तात्त्विक रूप से भिन्न है। पहली बात तो यही है कि हिंदी के क्षेत्र विस्तार की देशिक और दैशिक गति आंतरिक ज्यादा है। दूसरी यह कि इस विस्तार में हिंदी बोलनेवालों के राजनीतिक पराक्रम, सांस्कृतिक, व्यापारिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक उच्चता का उतना हाथ नहीं रहा है जितना कि उसकी अपनी भौगोलिक और समायोजी एवं समावेशी क्षमता का योगदान रहा है। इसलिए एक संभावना के तौर पर यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि हिंदी में लिखा गया सारा-का-सारा साहित्य हिंदी जाति का भी साहित्य हो ही यह जरूरी नहीं है। लेकिन इस समस्या का एक और पहलू है और उस पर ध्यान दिया जाना परम आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। हिंदी जाति के हितों के लिहाज से देखें तो यह बात बहुत थोड़े में ही बात स्पष्ट हो जाती है कि भाषा के स्तर पर अंग्रेजी ने हिंदी जाति का जितना अतिक्रमण किया है उससे कहीं ज्यादा भाव और हितों के स्तर पर अतिक्रमण किया है। जो काम पहले संस्कृत की अपार भाषिक क्षमता और अरबी-फारसी की राजसत्ता से संभव हुआ वह काम बाद के दिनों में अंग्रेजी की विश्वजनीन व्यापकता के हवाले से जारी रखा गया। इस पूरी प्रक्रिया का वृहत्तर हिंदी जाति के व्यापक हितों से सीधा संबंध है और हिंदी जाति के साहित्य निर्माण से भी। हिंदी में लिखे साहित्य में से हिंदी जाति के साहित्य का अभिज्ञान आज की तारीख में जोखिम भरा चाहे जितना हो अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण बहुत है। और इस के लिए आवश्यक होगा हिंदी भाषा के निर्माण और हिंदी समाज के मिजाज को ध्यान से पढ़ा जाये और उसका एक सुचिंतित पुनर्पाठ तैयार करने की ईमानदार पहल की जाये।

भाषा के गठन पर विचार करने से यह प्रमाण भाषावैज्ञानिक आधार पर मिल जाता है कि पुरानी हिंदी के रूपाकार ग्रहण करने और संस्कृत-समाज से भिन्न हिंदी-समाज की वर्गीय चेतना का सूत्र सरहपा से भले जुड़ता हो, भाषा-समाज-साहित्य-जाति की व्यवहार्यता के आधार पर हिंदी से हमारा आशय जिस भाषा से है उसके वास्तविक और सचेतन रूप के उदय का संधान हमें भारतेंदुकाल में ही मिलता है। और इस रूप के भी गद्यात्मक उदय का ही संधान मिलता है जिसका प्रसार पद्य के क्षेत्र में भी सहज और स्वाभाविक रूप से होता है। यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि खुद भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के काव्य की भाषा ब्रजभाषा ही थी। भक्तिकाल की भाषिक चेतना के अवगाहन से यह बात स्पष्ट होती है इस दौरान भी एक आवर्ती भाषा (कवरिंग लेंग्वेज) के रूप में संस्कृत को गहरी चुनौती मिल रही थी। कबीर संस्कृत को कूप जल घोषित कर रहे थे,

विद्यापति देसिल बयना को सबजन मिट्ठा बता रहे थे। संस्कृत को चुनौती देने का सीधा मतलब उसके प्रयोग के आधार पर पल रहे वर्ग के हितपोषण में लगी शक्तियों को ही तो चुनौती देना था! इस अवधि में बांग्ला, ओड़िया, असमिया, ब्रजभाषा, मैथिली, अवधी, भोजपुरी आदि भाषाएँ सामने आ रही थी और अंतरभाषिक संपर्क के लिए संस्कृत की जगह आवर्ती (कवरिंग) भाषा के रूप में उस भाषा की निर्मिति और स्वीकृति तेजी से अपनी वैधता हासिल कर रही थी जिसे हिंदुस्तानी के रूप में हम ने जाना। किंतु, साम्राज्यवादी ताकतों और धर्म के नाम पर बढ़ते दुराग्रहों से उत्पन्न सांप्रदायिक शक्तियों ने नवनिर्माण की प्रक्रिया से गुजर रही इस भाषा में दो फाड़ कर दिया। अपनी ग्रामीण एवं जाति-समाज से पूर्ण संयुक्तता के अभाव में हिंदुस्तानी इन दुरभिसंधियों का मुकाबला सफलतापूर्वक नहीं कर पायी। फलत: एक भाषा दो हो गयी। हिंदी और उर्दू। आज ये दो अलग-अलग भाषाएँ हैं, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। लेकिन बीते कल की तारीख में यह एक भाषा थी इसे भुला देना या अतीत के भविष्य में पुर्नप्रकटीकरण की संभावना के स्तर पर भी वैचारिक रूप से समाप्त मान लेना हिंदी, नहीं हिंदुस्तानी जाति के हित में नहीं है। अब अगर इसकी ऐतिहासिकता को ध्यान में रखा जाये तो हिंदी का विकास संस्कृत के हितग्राहकों के विरूद्ध हुए विद्रोह से ही हुआ माना जाना चाहिए। लेकिन बाद में संस्कृत के तत्सम के अतिरिक्त आत्मीयकरण के भोले आग्रह और सांप्रदायिक-साम्राज्यवादी दुरभिसंधियों के कारण संस्कृत के हितग्राहक वर्ग का ही प्रकारांतर से फिर हिंदी पर कब्जा हो गया। जैसे कर्मकांड की प्रबल विरोधी भक्ति-चेतना को भी बाद में एक भिन्न प्रकार की कर्मकांडी चेतना से संयुक्त कर देने में पुरोहित वर्ग सफल हुआ। यहाँ संस्कृत के विरोध में कुछ नहीं समझ लेना चाहिए। निश्चित रूप से संस्कृत अपार भाषिक क्षमता से संपन्न भाषा है। विश्लेषण-प्रमुख हिंदी भाषा को संश्लेषण-प्रमुख संस्कृत भाषा से बहुत अधिक आंतरिक और भाषिक ऊर्जा प्राप्त हुई है। संस्कृत के बहुत ऋण हैं लेकिन यह भी सच है कि संस्कृत ने अंतत: हिंदी के हिंदुस्तानीपन को निष्प्रभ बना दिया। हिंदी की मूल पूँजी इसके समायोजी स्वभाव को भी क्षति ही पहुँची। इस हानि को ध्यान में रखने की भी जरूरत है। साहित्य को देखें तो, द्विवेदीयुग तक इसके स्वभाव में इतिवृत्तात्मकता बनी हुई थी। अत्यंत गद्यवती, सीधी-सरल भाषा। विशुद्ध अभिधामूलक भाषा। छायावाद ने संस्कृतनिष्ठ शब्दावली के सहारे इस में भाव-संश्लेषण की क्षमता, दार्शनिक भाव-भंगिमा, व्यंजना, प्रयोग-चातुर्य और शब्द-शक्तियों से संपन्न किया। प्रेमचंद ने हिंदी की जिस भाषिक क्षमता का अर्जन, उपयोग और संचय किया वह हिंदुस्तानीपन को बचाये रखने की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण होते हुए भी सद्य: परवर्ती भाषिक विकास का आधार नहीं निर्मित कर सकी। साहित्यिक हिंदी एक ऐसी चाल में ढलने लगी जिसका अपने बन रहे सामाजिक आधार से मन-प्राण का स्थाई संबंध कायम नहीं हो सका। एक औपचारिक भाषा या संस्थानिक भाषा के रूप में इसका विकास होता गया। एक ऐसी भाषा जिसके बारे में रेणु के मैला

आँचल का पात्र उसे कचराही (कचहरी में बोली जानेवाली) कहता है। हिंदी के स्वरूप को ले कर अभिधा के हिंदी कवि रघुवीर सहाय के मंतव्य पर भी विशेष ध्यान दिया जाना आवश्यक है। इस रूप में हिंदी के विकास को उसकी ऐतिहासिकता में देखें तो बात कुछ स्पष्ट हो सकती है। द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता और भाषिक इकहरेपन से मुक्ति की चाह और चुनौती ने छायावाद की भाषा को ऐसी भव्यता और दिव्यता प्रदान की जो अंतत: हिंदी की जनोन्मुखता के भाषिक स्वाग्रह के ही विरोध में विकसित हुई। छायावाद की भाषिक चेतना को विवेचित करने से यह बात बिल्कुल साफ हो जाती है कि उसकी भाषिक-चेतना के मूल में नागर भाव ही अधिक सक्रिय था। इस दृष्टि से देखें तो शायद संवेदना की नगर केंद्रिकता पहली बार घटित हो रही थी। ठीक है कि गाँव में भी एक प्रकार का नगरपन होता है और उसी तरह नगर में भी एक प्रकार का गाँवपन हुआ करता है। छायावाद की भाषिक-चेतना में नगरपन की केंद्रिकता के होने को सहज ही लक्षित किया जा सकता है। छायावादियों में निराला साहित्य का सबसे अधिक जन-जुड़ाव सिद्ध और प्रसिद्ध है। बावजूद इसके, उनकी भी कविताओं में नगरपन की केंद्रिकता स्पष्ट है। प्रसंगवश, पत्थर तोड़ती मजदूरनी तो इलाहाबाद के पथ पर थी ही, भिक्षुक भी शहरी भिक्षुक ही है। वनवेला भी उपवनवेला ही अधिक है।

राजनीतिक रूप से परतंत्र था। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद की कालावधि में विकसित छायावादी चेतना और और द्वितीय विश्वयुद्ध के ठीक पहले सुगठित हो रही प्रगतिशील चेतना में भाषा, भाव, सरोकार और मिजाज में एक दूसरे न सिर्फ भिन्न पड़ते थे बल्कि कई अर्थों में विरोधी भी थे। महाप्राण निराला का महत्त्व छायावाद और प्रगतिवाद की मूल साहित्यिक-सांस्कृतिक आकांक्षाओं के विरोधों में सामंजस्य-साधक के रूप में भी है। क्योंकि निराला की सृजन-चेतना विजन वन वल्लरी पर सोई जूही की कली से भी संवाद स्थापित करने में सक्षम थी और राजनीति के आकाश में एक-से-एक नक्षत्रों और महात्मा गाँधी जैसे सूर्य के ताप और प्रकाश की युग-साक्षी रहते हुए भी अंध-कारा की गहनता महसूस कर सकती थी, सांस्कृतिक गगन में शशधर और तारा के नहीं होने को देख सकती थी, स्वार्थ के अवगुंठनों के नतीजों को पढ़ सकती थी, दगा करनेवाली इस सभ्यता को धिक्कार सकती थी । लक्षित किया जाना चाहिए कि इसीलिए निराला-साहित्य का भाषा-वैविध्य छायावाद में सबसे अधिक प्रखर और मुखर है।

प्रगतिशीलता

और साहित्य के संबंधों की भी छान-बीन करनी चाहिए। इस छान-बीन के लिए प्रगतिशील लेखक संघ से बात शुरू करना सबसे अधिक जरूरी है। प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के साथ या बाद में और उसी के आग्रह पर साहित्य में सामान्य प्रगतिशील चेतना का समावेश होता है, ऐसा मानने का कोई तुक नहीं है। साहित्य की अपनी मूल चेतना में ही सामान्य प्रगतिशीलता के तत्त्व अंतर्विष्ट हुआ करते हैं। बावजूद इसके यह जरूर है कि साहित्य की अपनी अंतर्विष्ट सामान्य प्रगतिशील चेतना और प्रगतिशील आंदोलन के विशिष्ट प्रगतिशील आग्रहों के अंतर को भी ध्यान में रखा जाना जरूरी है। साहित्य की अपनी अंतर्विष्ट प्रगतिशील चेतना सामंजस्य, समन्वय, संतोष, एवं सामाजिक समीकरण की उपलब्ध स्थिति के जारी रहते हुए व्यापक अर्थ में भाईचारा और विश्वबंधुत्व की कामना में अपने को अभिव्यक्त करती है। वसुधैव कुटुंबकम की कामना को इसी प्रगतिशील चेतना का स्वाभाविक परिणाम के रूप में समझा जा सकता है। यह कामना दुनिया के मजदूर एक हो की कामना से बहुत दूर नहीं है। तथापि इन में अंतर है। इस अंतर पर ध्यान देने की जरूरत है। वसुधैव कुटुंबकम की कामना में सामाजिक सामंजस्य, समन्वय एवं संतोष का भाव है। इसका मूलाधार परंपरा से प्राप्त सामाजिक संतोष का अन्वेषण कर असंतोष को निष्प्रभ बना देने में अधिक ही रूचि लेता है। यह राजा को राज भोगने का नैतिक आधार और प्रजा को कष्ट सहने का साहस प्रदान करता है। बीच-बीच में आम और सताये हुए लोगों पर करुणा करने और उसके प्रति दयावान बनने की आवश्यकता पर भी बल देता है। निर्बल को न सताइये, तिनका कबहुँ न निंदिये, मुए खाल की साँस से लौह भस्म हो जाये आदि के रूप में अपनी पूरी ऊज्वलता के साथ प्रतिभासित होता है। अंतत:, इसका मूल उद्देश्य होता है उपलब्ध सामाजिक समीकरण को किसी प्रकार की चुनौती और चोट दिये बिना उसकी तार्किकता को यथावत स्वीकार करते हुए किसी भी कीमत पर संतुलन, शांति और यथास्थिति एवं उसकी नैतिकता बनाये रखना, बहाल रखना। अधिक-से-अधिक, जारी व्यवस्था के सातत्य को कायम रखने अर्थात उसकी सनातनता के हित में उसकी क्रूरता को मानवीय सहन-सीमा के अंदर ही बनाये रखने की जरूरत मनवा लेना और तदनुरूप प्रभु-आचरण को मार्यादा में रहने के लिए सहमत करवाना ही है। इसे आज के उस आर्थिक सिद्धांत से भी जोड़कर देखा जा सकता है जिसके अनुसार गरीबी पूर्णत: उन्मूलित नहीं की जा सकती है। गरीबी अन-उन्मूलनीय है। अधिक-से-अधिक, उसे सह्य बनाया जा सकता है। इसलिए यह आर्थिक सिद्धांत जितना उत्तर-आधुनिक विचार है उतना ही पूर्व-आधुनिक भी। उत्तर और पूर्व के ईशान कोण की इसी मिलान-रेखा पर खड़े हो कर धर्म के पुरोहितवादी रूझान के बढ़ते हुए विश्वाकर्षण के निहितार्थ को भी पढ़ा जा सकता है। यह श्रमविभाजन को इस जन्म पर आश्रित स्वीकार करता है और श्रमफल वितरण को पूर्व जन्म पर आश्रित बताता है। चतुराई यह कि उत्तर-आधुनिकता के नाम पर अपनी इस पूर्व आधुनिक प्रवृत्ति को तो

बदलता नहीं, हाँ आवश्यकतानुसार उसकी शब्दावली जरूर बदल लेता है। इस प्रकार हर संभावित तार्किकता से मुक्त और परे होकर श्रम विभाजन और श्रमफल वितरण को अपनी सुविधानुसार अपनी सद्‍‍िच्छाओं और दया-भावनाओं के अनुकूलित किये रहता है। सामान्य प्रगतिशील चेतना की सक्रिय सामाजिक सापेक्षता ऐसे किसी सामाजिक प्रयास से नहीं जुड़ती है जो इसकी कामना की पूर्ति के लिए किसी समाज-राजनीतिक प्रयास से जुड़ा हुआ हो। इसलिए यह कोरी कामना भर है। जबकि, प्रगतिशील आंदोलन में प्रगतिशीलता का आग्रह होता है कि मनुष्य की सामाजिक संरचना में श्रमविभाजन के साथ-साथ श्रमफल वितरण भी किसी अपारदर्शी (चाहे वह अ-पारदर्शी हो या अपार-दर्शी ही क्यों न हो) सत्ता की दया या कृपा पर आधारित नहीं होकर एक ठोस तार्किक और पारदर्शी आधार पर हो। यह प्रगतिशीलता हितों और प्रवृत्तियों को अर्थ पर आधारित वर्गों के दृष्टिकोण से समझे जाने पर बल देती है। यह प्रगतिशीलता धर्म और समुदाय, लिंग और नस्ल के विभेद में सामंजस्य की नहीं बल्कि इनके बीच के सामान्य की समानता की बात करती है। यह प्रगतिशीलता सिर्फ कामना नहीं करती है बल्कि कामना की तार्किकता की पहचान और उसको हासिल करने के पथ के अनुसंधान और अनुसरण के लिए प्रेरित भी करती है। यह प्रगतिशीलता मात्र मानवीय गुणों की नैसर्गिकता में ही नहीं बल्कि मानवीय गुणों के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रतिफलन की प्रकिया में भी अपनी पैठ बनाने की कोशिश करती है। इस अर्थ में इस प्रगतिशीलता को एक वृहत्तर अर्थ में राजनीतिक क्रिया-कलाप के मार्क्सवादी दर्शन के साथ भी जोड़कर देखा जा सकता है, उसकी अनुषंगी के रूप में या फिर, चाहें तो, संकुचित अर्थ में राजनीतिक क्रिया-कलाप के अंतर्गत र्माक्सवादी दल से जोड़कर उसकी अनुचरी के रूप में भी देखा जा सकता है। दल और दर्शन के द्वंद्व का यह प्रसंग देखनेवाले की अपनी दृष्टि पर निर्भर है। लेकिन एक बात तय है कि इस प्रगतिशीलता की अपनी सामाजिकता और राजनीतिकता निश्चत रूप से होती है और र्माक्सवादी दर्शन से इसका गहरा जुड़ाव भी होता है। इस प्रकार सामान्य प्रगतिशीलता का मानवीय पक्ष कामना के स्तर पर प्राचीन है तो विशिष्ट प्रगतिशीलता, अर्थात, कामना को संभव करने के प्रयास का मार्क्सवादी पक्ष, आधुनिक परिघटना है। दोनों एक दूसरे के पूरक हो सकते थे लेकिन उन्हें अक्सर एक दूसरे के विरोध के परिप्रेक्ष्य में रखकर ही समझा गया। ध्यान दिया जा सकता है कि गाँधीवाद की प्रगतिशील चेतना और मार्क्सवाद की प्रगतिशील चेतना को किस प्रकार एक दूसरे की विरोधी मुद्रा में आमने-सामने खड़ा किया गया। कारण और भी रहे होंगे लेकिन लगता है कि किसी प्रतीक्षित क्रांति के अपने-अपने पार्टी के सिंहद्वार पर दस्तक दे रही होने के अपने-अपने भ्रम ने इस विरोधी मुद्रा को और दृढ़ किया होगा। यह राजनीति में हुआ। यही बीमारी पसर कर साहित्य में भी व्याप गयी। इससे बड़ा अहित हुआ। प्रेमचंद साहित्य इसलिए भी महान है कि जीवन के सन्निकट होने के कारण प्रगतिशीलता के ये दानो ही पक्षों के संबंध का संतुलन एक दूसरे के विरोधी

नहीं बल्कि पूरक बनकर हमारी संवेदना का अंग बनते हैं; गवाही लीजिये होरी और धनिया आदि की। बाद में का ज्यों-ज्यों साहित्यकार जनता से दूर होते गये इनका सामान्य और विशिष्ट प्रगतिशीलता के बीच का संतुलन कम होता चला गया। संतुलन का यह अभाव पलट कर साहित्य के ही जनता से दूर होते जाने का बायस बनने लगा। इसका खामियाजा आज साहित्य को उठाना पड़ रहा है। जनता से तो वह दूर होने ही लगा राजनीति ने भी उसे कभी अपने किसी काम के काबिल नहीं समझा। आज यदि अपनी प्रासंगिकता को पुनर्स्थापित करना है तो साहित्य को अपनी लुटी हुई इज्जत को फिर से हासिल करने की चुनौती के मर्म और कामना को संभव करने के प्रयास का बोझ उठाये जाने के महत्त्व को नये सिरे से समझना ही होगा। इस खतरे को भी समझना होगा कि दुत्कार से उत्पन्न इस अवसन्न स्थिति में साहित्य पाठक से जुड़ने के नाम पर नये बाजार की माया-मोहिनी के चक्कर में न फँस जाये।

समाज और जाति के लिए इतिहास सिर्फ बोझ ही नहीं होता प्रेरणा और प्राण भी होता है। हिंदी साहित्य के आधुनिक काल के विकास पर होनेवाले किसी भी जरूरी विमर्श के केंद्र में स्वाभाविक रूप से प्रगतिशील लेखक संघ की ऐतिहासिक भूमिका पर विचार और उससे प्राप्त अनुभव को होना ही चाहिए। प्रगतिशील लेखक संघ भारतीय लेखकों पहला सुसंगठित संगठन माना जा सकता है। यों एक भिन्न अर्थ में देखें तो अष्टछाप हो कि श्री-संप्रदाय साहित्य में ये भी एक प्रकार के संगठन ही थे। इनके पास अपना पुष्ट दार्शनिक मत और मार्ग भी था। तथापि, प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के बाद ही साहित्य को सुसंगठित रूप से समाज सापेक्ष बनाने की प्रक्रिया को संकेद्रित किया जा सका। समाज की समस्याओं पर ध्यान दिया गया और लेखन के प्रयोजन को सचेत होकर व्यावहारिक स्तर पर स्वांत: सुखाय से आगे बढ़ाकर उसके महत्त्व को सामाजिक विकास के उपकरण के रूप में भी समझा गया। वास्तविक अर्थ में यहीं से साहित्य की परिधि में यह भौतिक जगत आया। राजनीति से इसका सचेत संबंध बना। चूँकि इसका संबंध मार्क्सवादी दर्शन से था इसलिए स्वभावत: इसके संबंध का प्रसार कम्युनिस्ट पार्टी तक भी था। ऐतिहासिक रूप से उस समय इसलिए भी यह अधिक बाध्यकारी और जरूरी था कि दुनिया विश्व-युद्ध और शीत-युद्ध के फासीवादी खतरों से एक साथ जूझ रही थी। जाहिर है, आपात की ऐसी स्थिति में विचार पर तत्काल का दबाव बहुत अधिक बढ़ जाया करता है। ऐसे दबाव को सफलतापूर्वक झेलने के लिए जिस ऐतिहासिक अनुभव की अनिवार्य आवश्यकता हुआ करती है, हिंदी साहित्य और समाज के पास उस अनुभव का नितांत अभाव था। इस अनुभव के अभाव के कारण हिंदी साहित्य और समाज उस दबाव को अपेक्षित साहस के साथ सफलता पूर्वक झेल नहीं पाया। ध्यान में रखने की बात यह है कि साहित्य को एक खास दिशा देने की

ऐतिहासिक जरूरत थी और इसके लिए खास तरह के वैचारिक नियंत्रण की भी आवश्यकता थी। नियंत्रण की इस आवश्यकता के परिप्रेक्ष्य में साहित्य और उसके ग्राहक (पाठक) के बीच की खाली भूमि पर एक और शक्तिशाली साहित्यिक विधा अर्थात आलोचना-साहित्य के आविर्भाव को रखकर देखा जाना चाहिए। यह ठीक है कि प्रगतिशील लेखक संघ की पहली बैठक की अध्यक्षता प्रेमचंद ने की थी और उसका गठन भी सर्जनात्मक साहित्य से जुड़े लोगों ने ही किया था। लेकिन यह भी तथ्य है कि संगठन पर वास्तविक वर्चस्व स्वभावत: आलोचकों का ही कायम होता गया, क्योंकि यह तय करने की सामर्थ्य आलोचना के पास ही थी कि साहित्य में कौन-सा साहित्य महत्त्वपूर्ण है और क्यों है। आलोचकों से समय-समय पर सर्जनात्मक लेखन से जुड़े लोगों का मतांतर भी सामने आया और उन्होंने भी आलोचना में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान किया। लेकिन दोनों ही स्थिति में आलोचना का महत्त्व अक्षुण्ण रहा और बढ़ा। आलोचना और आलोचकों के इस बढ़े हुए वर्चस्व ने लेखक और लेखन को सामाज की सापेक्षता से अंतरित कर आलोचना की आकांक्षा की सापेक्षता से जोड़ दिया। कहीं-कहीं इसका सकरात्मक और हितकर परिणाम भी सामने आया लेकिन रचना की अनिवार्य अंतर्निहित शर्त स्वायतत्ता के खंडन से नकारात्मक और अ-हितकर परिणाम भी सामने आया। लेखक के आलोचनापेक्षी होते जाने से उसकी कारयित्री प्रतिभा पर भावयित्री प्रतिभा अधिक भारी पड़ने लगी। जिन लेखकों की आलोचना बुद्धि की निष्पत्ति वर्गीकृत प्रगतिशील आलोचना की आकांक्षा से स्वाभाविक रूप से मिल गयी उन्होंने महत्त्वपूर्ण रचनाएँ भी दीं। तुरत-फुरत आलोचकीय मान्यता भी मिल गयी। आलोचकीय मान्यता के सामने सहज पाठकीय मान्यता जाने-अनजाने महत्त्वहीनता के अंधकार में धकेल दी गयी। लेखक भी पाठकीय प्रतिक्रिया की महत्ता से उदासीन-सा होता चला गया और आलोचकीय प्रमाण पर अधिक आश्रित होता चला गया। पाठक अपने इस फालतूपने से उबरने के चक्कर में पीछे हटते-हटते अंतत: साहित्य के मैदान से ही बाहर हो गया। पाठकों का रोना हिंदी साहित्य का स्थाई भाव-मुद्रा बन गया। यह लगभग वैसी ही प्रक्रिया रही जैसी प्रक्रिया राजनीति में रही। हिंदी-पट्टी की राजनीति से जनता और हिंदी साहित्य से पाठक के अनुपस्थित होते चले जाने की घटना एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। साहित्य और पाठक के बीच आलोचना की स्थिति ही निर्णायक बनी। आलोचक जहाँ सक्रिय (एक्टिव) पाठक होता है वहीं पाठक निष्क्रिय (पैसिव) आलोचक हुआ करता है। आलोचना की सार्थकता रचना की अनुगामिनी बने रहने में थी लेकिन आलोचना शक्तिशाली होने के कारण रचना के आगे-आगे चलने लगी। वैसे भी शक्ति में किसी से पीछे रहने का शील कहाँ हुआ करता है। रचना ही आलोचना की अनुगामिनी बन गयी। यह घोड़ा के आगे गाड़ी की सी स्थिति हो गयी। इन स्थितियों का निश्चित तौर पर रचनाशीलता पर गहरा नकारात्मक असर भी पड़ा। रचना का वैशिष्ट्य ही लुप्त हो गया और समरूपा रचनाएँ सामने आने लगी। समरूपता बिल्कुल नकारात्मक गुण ही हो ऐसी

भी बात नहीं है लेकिन रचाना के जिस पक्ष में यह समरूपता घटित हो रही थी वही पक्ष रचना की निजता, उसकी आत्मनिष्ठता और उसके वैशिष्ट्य को रचकर उसे रचना की प्रभविष्णुता और प्रभावशीलता से संपन्न बनाता है। रचनाकारों की निजी महत्त्वाकांक्षाओं के नीचे दबी रचनाओं के सामाजिक निर्माण के स्वप्न, दार्शनिक मनोभाव या सच्ची प्रगतिशीलता की जगह दलीय-गुटीय-सांस्थानिक अप-निष्ठा के ॠजु मार्ग पर बढ़ने से भी यह खतरा और बढ़ गया। कई बार खुद आलोचना साहित्य और जन या जनपक्षीय राजनीति के सामाजिक स्वप्न की योजिका के रूप में अपनी भूमिका से कन्नी काट गई। महत्त्वाकांक्षाओं के अतिरेक के गर्भ से जनमे कई साहित्येतर दबाव जिन्हें सावधानीपूर्वक और दृढ़तापूर्वक झेला जाना चाहिए था, आलोचना झेल नहीं पाई। इस चक्कर में कई बार आलोचना विचार केंद्रीयता से विचलित होकर विचारक या व्यक्तिवाद केंद्रीयता के भँवर में फँस गई। यह खतरा इसलिए भी कुछ अधिक गहराया कि ये विचार भी अपने जातीय अनुभवों की तीव्र आँच में पूरी तरह पक कर नहीं निकले थे, अपनी सामाजिक जरूरत के अनुरूप पूरी तरह नहीं ढले थे।

चेतना एक मिश्र उत्पाद हुआ करती है। उसके निमार्ण में बहुत सारे सामाजिक कारक सक्रिय हुआ करते हैं। साहित्य इन बहुत सारे कारकों को उनकी सामाजिक स्वीकृति से प्राप्त उनकी हैसियत के अनुसार उन्हें संयोजित करता है, उनकी प्राथमिकताओं को जीवन के स्तर पर वैचारिक दृष्टिकोण से संवेदना के तंतु को जागृत करता है, बरतने के लाभ-अ-लाभ का मर्म पकड़ता है। साहित्य स्वप्न और आकांक्षाओं का यथार्थ के अवरोधों से संघात उपस्थित करते हुए, एक नई जीवन शैली की आकांक्षा समाज के समष्टि और व्यष्टि मन में भरता है। इस प्रक्रिया में कई बार उसे उन सामाजिक आग्रहों को भी स्वीकारना पड़ जाता है जो उसकी अपनी निजी मान्यता के आधार पर उतने खरे नहीं भी उतरते हैं, जितनी कि समाज के आग्रह के दबाव की सक्रियता होती है। आलोचना मुख्य रूप से पाठ और पाठक के बीच का आपसी संवाद होती है। इसलिए रचना को ही नहीं रचनाकारों और पाठकों के मन पढ़ने को भी आलोचना अपना दायित्व माने यह आवश्यक है। साहित्य का काम सब को अपना-सा करने में होता है। जो विचार के धरातल पर अपने होते नहीं हैं उन्हें भी संवेदना के स्तर पर आत्मवत बनाने के दायित्व से साहित्य बँधा होता है। स्वाभाविक है कि साहित्य अपने स्वभाव में ही थोड़ा मिश्र प्रकृति का होता है। इस मिश्र प्रकृति के प्रति आदर के अभाव में साहित्य के मर्म को समझा ही नहीं जा सकता है लेकिन कई बार आलोचना अपने वैचारिक बल पर इस मिश्र प्रकृति के प्रति अपेक्षित आदर के साथ पेश नहीं आती है। हिंदी आलोचना में इस

अपेक्षित आदर का कुछ अधिक ही अभाव रहा है। ऐसे में साहित्य आलोचना की कसौटी पर खरा उतरने के बावजूद अपनी सामाजिक मान्यता हासिल करने में पिछड़ जाता है। गंभीर साहित्य अपनी सामाजिक स्वीकृति के अभाव में दिनानुदिन आलोचनापेक्षी बनता जाता है। इस स्थिति में साहित्य विभाजित हो जाता है। गंभीर साहित्य और फूहड़ साहित्य या इसे इस तरह भी कहा जा सकता है कि अलोकप्रिय साहित्य और लोकप्रिय साहित्य। इन दोनों के बीच में उस साहित्य का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है जो विशाल पाठक वर्ग को अपनी परिधि में समेटे रह सकता है। गंभीर साहित्य एक बहुत ही छोटे वर्ग में सिमट जाता है और विशाल पाठक वर्ग में साहित्य अपनी स्वीकार्यता नहीं बना पाता है। लेखक के पास पाठक के अभाव का और पाठक के पास उनके काम के अच्छे साहित्य के अभाव का रोना बचा रह जाता है। पाठक को अपेक्षा रहा करती है कि पाठ उसके मर्म तक पहुँचे और पाठ अपने पाठक की प्रतीक्षा में सूख कर काँटा! इस वियोग और विभाजन को रोकने में आलोचना की बहुत ही गंभीर भूमिका हो सकती है और है। यह काम आलोचना के साहित्य और समाज के बीच सेतु बनने की संभावनाओं को हासिल करने से ही सध सकता है। मठ-धर्मी या हठ-धर्मी बनने से नहीं और न ही ठग-मोदक की तरह विचारों के प्रवचन से ही सध सकता है।

भारतीय भाषाओं के साहित्यालोचकों की तुलना में हिंदी आलोचना और साहित्यालोचकों का कद बहुत बड़ा है और हिंदी साहित्य को इस पर उचित गर्व भी है। लेकिन हिंदी आलोचना और साहित्य को आत्मनीरिक्षण करना चाहिए कि साहित्य की पठनीयता इतनी कम क्यों है? यह भी कि कैसे ज्यों-ज्यों आलोचना या आलोचक का कद बढ़ता गया त्यों-त्यों साहित्य की पठनीयता कम होती गई! यह आलोचना की सफलता नहीं मानी जानी चाहिए, किसी-न-किसी रूप में यह आलेचना की भी विफलता ही है। आज जब दुनिया एक भिन्न एवं नये प्रकार के अर्थ-दासत्व, हित हरण, आंतरिक विभाजन एवं आत्म-उपनिवेशीकरण, बाजार-युद्ध और प्रचार-युद्ध के फासीवादी खतरों से एक साथ जूझते हुए अभूतपूर्व प्रसार और संकोच से बन रहे नाना सामाजिक ब्लेकहोल से आक्रांत होने की बाध्यकर स्थिति में फँसती जा रही है तब हिंदी साहित्य और आलोचना दोनों को अपने अनुभव से सबक लेते हुए अपनी भूमिका के नये परिप्रेक्ष्य को पकड़ना चाहिए। और यह हमेशा ही याद रखना चाहिए कि हिंदी जो बोलनेवालों की संख्या की दृष्टि से इस दुनिया की तीसरी सब से बड़ी भाषा है लेकिन दुनिया के वंचितों की संख्या की दृष्टि से निश्चय ही दुनिया की सब से बड़ी भाषा है उसके साहित्य और आलोचना का दायित्व ऐसे कठिन समय में कितना एवं कैसा होता है। बहरहाल, साहित्य और आलोचना के ढाई घर के झिझिर कोना में फँसे पाठक को वहाँ से आदरपूर्वक बाहर

निकालकर साहित्य के खुले घर-आँगन में ले आने की युक्ति करना आज साहित्य और आलोचना का संयुक्त प्राथमिक दायित्व है।यह दायित्व यदि पूरा न किया जा सका तो? हिंदी साहित्य और आलोचना दोनों इसका जवाब भविष्य में ही पा सकेंगे।